Year-68, Volume-3
July - Sep. 2015

RNI No. 10591/62
ISSN 0974-8768

अनेकान्त

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ANEKĀNTA

(A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

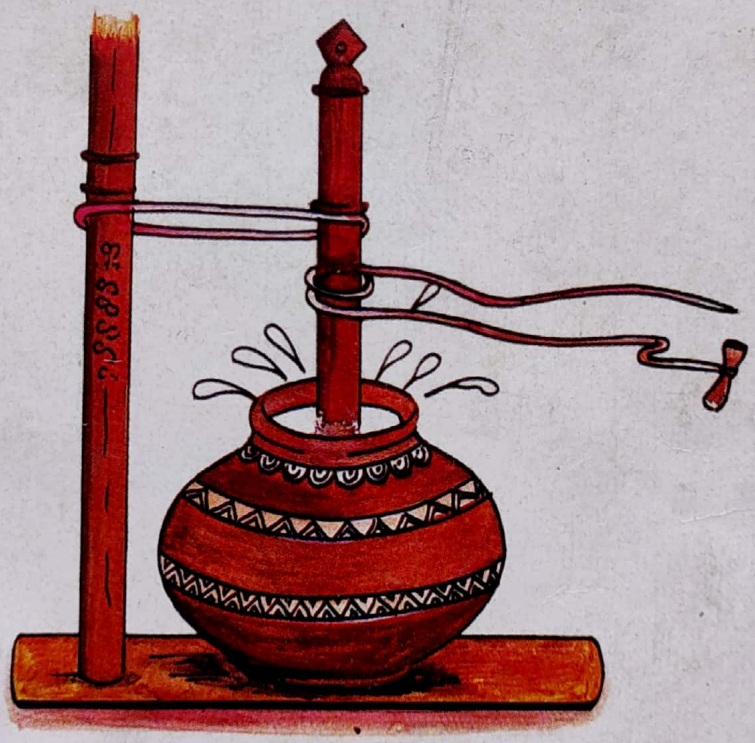

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥

वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली - 110 002
Vir Sewa Mandir, New Delhi-110 002

Scanned with CamScanner

विषयानुक्रमणिका

विषय	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
1. स्थायी स्तम्भ- युगवीर-गुणाख्यान	प्रा. निहालचंद जैन	5-7
2. संपादकीय-दर्शनमोहनीय और....	डॉ. जयकुमार जैन	8-14
3. इतिभासियाइं का दार्शनिक विवेचन	डॉ. धर्मचन्द जैन	15-32
4. जैन साहित्य में लेश्या-विमर्श	डॉ.श्रीमतीराका जैन	33-47
5. गाँधी और जैनदर्शन	प्रो. बच्छराज दूगढ़	48-54
6. अर्जन के साथ विसर्जन के सूत्र उत्तराध्ययन के परिप्रेक्ष्य में	सुधा भण्डारी	55-64
7. Need of the Day-Comparative Study of Indic-religions	Prof. Sagarmal Jain	65-69
8. सम्मइसुत्तं में प्रतिपादित सह-अस्तित्व का दार्शनिक विवेचन	श्रीमती दीप्ति मेहता	70-79
9. न्यायविद्या-स्वरूप एवं परंपरा	डॉ. योगेश कुमार जैन	80-90
10. पुरस्कार एवं सम्मान	वी. के. जैन, महामंत्री	91
11. पुस्तक समीक्षा	प्रा. निहालचंद जैन	92-93
12. पाठकों के पत्र		94
13. नवीन कार्यकारिणी समिति-2015		95
14. वीर सेवा मंदिर के प्रकाशन ग्रन्थों पर विशेष छूट		96

Scanned with CamScanner

न्यायविद्या : स्वरूप एवं परम्परा

– डॉ. योगेश कुमार जैन, लाडनूँ

मानव जीवन में विद्या का सर्वाधिक महत्त्व है। विद्या के महत्त्व को बताते हुए 'ईशावास्योपनिषद्' में लिखा है कि ''विद्ययाऽमृतमश्नुते''[1] यहाँ विद्या से तात्पर्य ज्ञान है, ज्ञान से ही मृत्युविरोधी अमृत तत्त्व की प्राप्ति होती है। आत्मतत्त्व अक्षय अमृत और ब्रह्म रूप है। आत्मा की अपने स्वरूप में अनुभूति ही ब्रह्मानुभूति है और यही मोक्ष है। विद्या के 'परा' और 'अपरा' ये दो भेद करते हुए 'रूद्रहृदयोपनिषद्' में कहा गया है कि परा और अपरा नाम की दो विद्यायें हैं वे साधक के लिए ज्ञातव्य हैं।[2] 'मुण्डकोपनिषद्' के अनुसार **''द्वेविद्ये वेदितव्ये इति ह यद्ब्रह्मा विदो वदन्ति परा चैवापरा''।**[3] मनुष्य के लिए जानने योग्य दो ही विद्याऐं हैं एक परा और दूसरी अपरा। इन दोनों में से जिसके द्वारा इस लोक और परलोक सम्बन्धी भोगों तथा उनकी प्राप्ति के साधनों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है, जिसमें भोगों की स्थिति भोगों के उपभोग करने के प्रकार, भोग सामग्री की रचना और उनको उपलब्ध करके नाना साधन आदि का वर्णन है वह अपरा विद्या है यथा यजुर्वेद, ऋग्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये चारों वेद तथा छः वेदांग शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द और ज्योतिष इनका नाम अपरा विद्या है और जिसके द्वारा परब्रह्म अविनाशी परमात्मा का तत्त्वज्ञान होता है वह पराविद्या है।[4]

मनुष्य में जो स्वाभाविक विचार शक्ति है उसी का नाम दर्शन है। ''दृष्यतेऽनेनेति दर्शनम्''[5] इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा वस्तु का स्वरूप देखा जाता है वह दर्शन कहलाता है अर्थात् यह संसार नित्य है? या अनित्य है? इसकी सृष्टि करने वाला कोई है या नहीं? आत्मा का स्वरूप क्या है? इत्यादि प्रश्नों का समुचित उत्तर देना दर्शन शास्त्र का विषय रहा है। दर्शन शास्त्र वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन करने के कारण वस्तु परतन्त्र है। 'सत्' की व्याख्या करने में भारतीय दार्शनिकों ने विषय की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जितना विषयी (आत्मा) की ओर ध्यान दिया है। आत्मा

को अनात्मा से पृथक् करना दार्शनिकों का प्रधान कार्य रहा है। इसीलिए 'आत्मानंविद्धि' आत्मा को जानो, यह भारतीय दर्शनों का मूलमंत्र है। यही कारण है कि प्रायः समस्त भारतीय दर्शन आत्मा की सत्ता पर प्रतिष्ठित हैं। धर्म तथा दर्शन में प्रारम्भ से ही घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है और दर्शन शास्त्र के सुविचारित आध्यात्मिक तथ्यों के ऊपर ही भारतीय धर्म दर्शन दृढ़ प्रतिष्ठित है। तार्किक विचार पद्धति, तत्त्वज्ञान, विचार प्रयोजक ज्ञान अथवा परीक्षाविधि का नाम दर्शन है। दर्शन का मूल उद्गम कोई एक वस्तु या सिद्धान्त होता है। जिस वस्तु या सिद्धान्त को लेकर यौक्तिक विचार किया जाए उसी का वह दर्शन बन जाता है। 'दर्शन' शब्द का प्रयोग सबसे पहले आत्मा से सम्बन्धित विचार के अर्थ में हुआ। दर्शन यानी वह तत्त्वज्ञान जो आत्मा, कर्म, धर्म, स्वर्ग, नरकादि का विचार करे। दर्शन अर्थात् विश्व की मीमांसा, अस्तित्त्व या नास्तित्त्व विचार अथवा सत्त्व शोधका साधन।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्राचीन ऋषि महर्षियों तथा दार्शनिकों ने अपनी तात्त्विक दृष्टि से जिन-जिन तथ्यों का साक्षात्कार किया उन तथ्यों को 'दर्शन' शब्द द्वारा अभिधीत किया गया तथा[6] जो कुछ श्रद्धा के द्वारा स्वीकार किया गया था उसकी वास्तविकता को तर्क द्वारा सिद्ध करने के प्रबल प्रयास किये गये। यह तरीका बुद्धि संगत नहीं है ऐसी बात नहीं क्योंकि दर्शन उस प्रयास का ही दूसरा
नाम है जो मानव समाज के बढ़ते हुए अनुभव की व्याख्या के लिए किया जाता है।

भारतीय दार्शनिक चिन्तन परम्परा में विविध दर्शनों का प्रादुर्भाव हुआ। जिनमें आस्तिक दर्शनों के रूप में छः दर्शन अधिक प्रसिद्ध हुए-महर्षि गौतम का 'न्यायदर्शन', कणाद का 'वैशेषिकदर्शन, कपिल का 'सांख्यदर्शन', पतंजलि का 'योगदर्शन' जैमिनि का 'पूर्व मीमांसा' और बादरायण का 'उत्तर मीमांसा' अथवा वेदान्त'। ये सभी वैदिक दर्शन के नाम से जाने जाते हैं क्योंकि ये वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं। भारतीय दर्शन परम्परा के अनुसार जो दर्शन वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं वे आस्तिक कहलाते हैं और जो वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करते उन्हें नास्तिक की संज्ञा दी गई है। किसी भी दर्शन का नास्तिक या आस्तिक होना परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने पर निर्भर न होकर वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार

अथवा अस्वीकार करने पर निर्भर है। मनु का कहना है कि नास्तिक वह है जो वेदों की निन्दा करता है।[6] ऐसा कहा जाता है कि नास्तिक दर्शनों यथा बौद्ध, जैन और चार्वाक् में से बौद्ध धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों का उद्गमन भी उपनिषदों में है यद्यपि उन्हें सनातन धर्म नहीं माना जाता हैं क्योंकि वे वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करते। 'कुमारिल भट्ट' जिनकी सम्मति इन विषयों में प्रामाणिक समझी जाती है स्वीकार करते हैं कि बौद्ध दर्शन ने उपनिषदों से प्रेरणा ली है और वे यह युक्ति देते हैं कि इनका उद्देश्य अत्यन्त विषय भोग पर रोकथाम लगाना था। वे यहाँ घोषणा करते है कि ये सभी प्रामाणिक दर्शन है।[7]

समस्त भारतीय दर्शनों को हम दो कालों में विभाजित कर सकते हैं- सूत्रकाल और वृत्तिकाल। सूत्रकाल में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त दर्शनों की रचना हुई। सूत्र काल से तात्पर्य सूत्र रचना के समय से ही उसका प्रारंभ हुआ, ऐसा नहीं है किन्तु ये सूत्र अनेक शताब्दियों में किये गये चिन्तन और मनन के फलस्वरूप निष्पन्न हुए हैं। इन सूत्रों का रचना काल 400 विक्रम पूर्व से 200 विक्रम पूर्व तक स्वीकार किया जाता है। सूत्र का लक्षण बताते हुए आचार्य कहते हैं कि-

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम्।
अस्तोभ मनवद्यं च सूत्रंसत्रविदोविदुः॥

सूत्रों की भाषा और गूणार्थ को समझने के लिए भाष्य, वार्तिक तथा टीका ग्रन्थों की रचना हुई। यह काल वृत्तिकाल कहलाता है। शवर, कुमारिल, वात्स्यायन, प्रशस्तपाद, शङ्कर, रामानुज, वाचस्पति, धर्मकीर्ति, अकलंक, विद्यानंद, माणिक्यनंदी, प्रभाचंद्र आदि आचार्य इसी युग में उत्पन्न हुए। वृत्तिकाल का समय विक्रम संवत् 300 से वि. सं. 1500 तक माना जाता है। वैदिक दर्शनों में सांख्य दर्शन सबसे प्राचीन माना जाता है। उसके बाद क्रमशः अन्य दर्शनों की उत्पत्ति और विकास हुआ। अवैदिक दर्शनों में चार्वाक में हुई बुराईयों को दूर करने के लिए ईसापूर्व छठी शताब्दी में महात्मा बुद्ध के जन्म के बाद बौद्ध दर्शन का अभिर्भाव हुआ। जैनदर्शन की मान्यतानुसार जैन दर्शन की परम्परा अनादि काल से प्रवाहित होती चली आ रही है। वर्तमान युग में आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ से लेकर चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों ने कालक्रम से जैन धर्म और जैनदर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। तथा उसी परम्परा में

कुन्दकुन्द, उमास्वामि, समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक, विद्यानंद, हरिभद्र, माणिक्यनंदि, प्रभाचंद आदि आचार्यों ने जैनदर्शन के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। नैयायिकों ने सृष्टि की खदान से शोध पूर्वक पदार्थों को खोजकर उनकी संख्या, स्वभाव आकार एवं उनका परस्पर सम्बन्ध भी न्याय शास्त्र से निश्चित किया है। अतः यह शास्त्रदर्शन पदार्थ परीक्षण रूप है। न केवल समग्र दर्शन शास्त्र अपितु सामान्य व्यवहार में भी न्याय परिभाषा का अतीव महत्त्व है इसीलिए सभी दर्शनों के व्यवहार का द्वार न्याय दर्शन को माना जाता है।

उपनिषद् में उपलब्ध विद्या के भेद को बाद के विद्वानों ने प्रतिपाद्य वस्तुतत्त्व के आधार पर विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया है। अर्थशास्त्र में 'कौटिल्य' (327 ई पू.) द्वारा मान्य विद्या भेदों का निर्देश आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति इन चार नामों से किया है। **''आन्वीक्षिक्या हि विवेचिता त्रयी वार्त्ता दण्डनीत्योः प्रभवति''**[8] अर्थात् 'आन्वीक्षिक्या'-प्रमाणों और तर्कों से विवेचित त्रयी, वार्ता, वेद और दण्डनीति का आदेश कर सकते हैं, कहकर आन्वीक्षिकी का महत्त्व बताया है। धर्माधर्म का निर्णय वेदत्रयी से होता है, अर्थानर्थ का निर्णय वार्ता से अर्थात् वाणिज्य विद्या से होता है। कौटिल्य ने इस विद्या का महत्त्व दर्शाते हुए लिखा है-

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां सेयमान्वीक्षिकीमता॥[9]

अर्थात् आन्वीक्षिकी सभी विद्याओं का प्रदीप-प्रकाशक है। सभी कर्मों का उपाय और सभी धर्मों का आश्रय है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि यह विद्या सम्यग्व्यवहार साधनभूत है। न्यायसूत्र भाष्यकार वात्स्यायन कहते हैं कि-'इमास्तुचतस्रोविद्याः पृथक् प्रस्थानाः प्राणभृतामनुग्रहाय उपदिश्यन्ते। यासां चतुर्थीयमान्वीक्षिकीन्याय विद्या। तस्याः पृथक प्रस्थानाः संशयादयाः पदार्थाः तेषां पृथग् वचनमन्तरेण, अध्यात्मविद्यामात्रमियंस्यात् यथोपनिषद्'[10] अर्थात् तत्त्वज्ञानग्रन्थों में संशयादिकों का विवरण नहीं है, न्याय शास्त्र ने संशय का विवरण करते हुऐ संशय निराकरण पूर्वक तत्त्व-ज्ञान की प्रस्थापना की पद्धति बताई है। यही कारण है की न्याय शास्त्र के अध्ययन बिना तत्त्वज्ञान का अध्ययन कभी नहीं हो सकता। न्याय शास्त्र का चरम प्रयोजन निश्रेयस सिद्ध ही है। संशय रहित निश्रेयस प्राप्ति यह न्याय का प्रमुख उद्देश्य है।

आन्वीक्षिकी सभी धर्मो का आश्रय है, जैसे धर्म से यदि पदार्थ धर्म लिए जायें तो निश्चय ही वे अनुमान पर ही आधारित हैं यथा द्रव्य धर्म द्रव्यत्व की सिद्धि द्रव्यनिष्ठ कार्य सामान्य की कारणता में किंचिद् धर्मावच्छिन्नत्व के अनुमान से तथा पृथिवी धर्म पृथिवीत्व की सिद्धी पृथिवीनिष्ट गन्ध-सामवायिकारणता में किंचिद् धर्मावच्छिन्नत्व के अनुमान से होती है। धर्म से यदि पुण्य अर्थ लिया जाये तो उसकी सिद्धी भी अनुमान से ही होती है यथा ''स्वर्गकामोयजेत'' इस विधि वाक्य से यज्ञ को स्वर्ग का कारण बताया गया है पर यज्ञ का अनुष्ठान पूरा होने पर यज्ञ कर्त्ता को तत्काल स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती अपितु वर्तमान देह का अवसान होने पर प्राप्ति होती है, अत: अनुमान द्वारा यज्ञ के धर्मरूप व्यापार की सिद्धी कर उसके द्वारा यज्ञ में वेदोक्त स्वर्ग कारणता की उपपत्ति की जाती है। इस प्रकार आन्वीक्षिकी-अनुमान ही पदार्थ धर्मो का तथा शास्त्र विहित कर्मजन्य धर्मो का साधक होने से उनका आश्रय है। यह आन्वीक्षिकी प्रमाण और तर्क द्वारा अन्य सभी विद्याओं को प्रतिष्ठित करती है, प्रकाश में लाती है और उन्हें लोक यात्रा के लिए उपयोगी बनाती है।

महर्षि गौतम न्याय शास्त्र के आद्य प्रणेता माने जाते हैं। शास्त्रकार का मुख्यनाम 'मेधातिथि' माना जाता है किन्तु प्रसिद्धि गोत्रनाम 'गौतम' से ही पायी जाती है। कुछ विद्वान इनका नाम 'अक्षपाद' भी स्वीकार करते हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि मेधातिथि गौतम मूलरूप में सूत्रों के कर्त्ता और अक्षपाद परिस्कर्त्ता है। न्याय एवं वैशेषिक दोनों दर्शनों को मिलाकर न्याय शास्त्र अथवा तर्क शास्त्र नाम से इस दर्शन युग्म की प्रसिद्धि हो गई थी। यद्यपि महर्षि गौतम न्याय के आद्यप्रणेता माने जाते हैं और कषाद वैशेषिक दर्शन के, किन्तु विमर्श से ज्ञात होता है कि ये दृष्टा ही थे प्रणेता नहीं। भारतीय सिद्धान्तानुसार सब शास्त्रों का उद्गम स्थान वेद ही है। उसके किसी तत्त्व का उपबृंहण शास्त्र का स्वरूप धारण करता है इसीलिए इन्हें दर्शन भी कहा जाता है। मूलभूत सिद्धान्त का परिष्कृत दर्शन ही शास्त्र कहा जाता है। ये ही छ: शास्त्र हैं। उनमें से न्याय शास्त्र एक है अत: उसका मूल सात वेद ही है। ऋग्वेद में **'सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च'** (अ.5/7) कहा है जो गौरव लाघव ज्ञान में लाघव ज्ञान को हितकारक बताता है यह न्याय शास्त्र का ही विषय है। कहा भी है कि -

श्रोतव्य: श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपत्तिभि:।
न्यायो मीमांसा धर्मशास्त्राणि श्रुति:[12]

इस प्रकार सर्वत्र न्याय शास्त्र का स्वरूप स्पष्ट किया है। तत्त्वज्ञान के साधन स्वरूप स्मृतिग्रन्थों में, प्राय: मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति और विष्णु स्मृति में इस विद्या का वर्णन प्राप्त होता है।

वात्स्यायन ने न्याय भाष्य की भूमिका में स्पष्ट कहा है कि **प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्याय:**[14] अर्थात् सभी प्रमाणों से अर्थ की परीक्षा करना न्याय है। न्याय उस वाक्य समूह को भी कहा जाता है जो अन्य व्यक्ति को अनुमान द्वारा किसी विषय का बोध कराने के लिए प्रयुक्त होता है। वात्स्यायन ने उसे परम न्याय कहा है और उसे वाद, जल्प, वितण्डा रूप विचारों का मूल तथा तत्त्वनिर्णय का आधार बताया है।[15]

न्यायशास्त्र के भेद :

भारतीय वाङ्मय में न्याय के दो भेद माने गये हैं वैदिक और अवैदिक। जिस न्याय में वेद का प्रामाण्य स्वीकृत किया गया है वह वैदिक है और जिसमें वेद का प्रामाण्य स्वीकृत नहीं किया गया है वह अवैदिक। अवैदिक न्याय में चार्वाक्, जैन और बौद्ध दर्शन के सौत्रन्तिक, वैभाषिक, योगाचार, माधयमिक सम्प्रदाय तथा अन्य अपने देश के अर्वाचीन चिन्तकों द्वारा उद्भावित समग्र न्याय का समावेश है। वैदिक न्याय में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा आदि वेदान्त के न्यायों का समावेश है। उक्त सभी न्याय शास्त्रों मे गौतमीय न्याय शास्त्र को सर्वमूर्धन्य स्थान प्राप्त है, क्योंकि न्याय का विवेचन तथा न्याय की प्रणाली एवं वस्तु तत्व का विचार करने में जैसी सावधानी और सतर्कता गौतमीय न्याय में अपनायी गयी है वैसी अन्य कहीं नहीं अपनाई गयी है।

गौतमीय वैदिक न्याय-शास्त्र के समग्र वाङ्गमय को दो धाराओं में विभाजित किया जाता है- प्रमेय प्रधान और प्रमाण प्रधान। गौतम से गंगेश के पूर्व तर्क के न्यायविद् विद्वानों की कृतियाँ प्रमेय प्रधान है और गंगेश की तत्त्वचिन्तामणि तथा उस पर आधारित परवर्ती विद्वानों की समग्र कृतियाँ प्रमाण प्रधान हैं। प्रमेय प्रधान ग्रन्थराशि को प्राचीन न्याय तथा प्रमाण प्रध ान ग्रन्थराशि को नव्य न्याय कहा जाता है। प्राचीन न्याय तथा नव्यन्याय में जो भेद है वह मुख्यतया उनकी भाषा और शैली पर आधारित है। प्राचीन न्याय के ग्रन्थों में जहां प्रकारता, विशेष्यता, संसर्गता, प्रतियोगिता, अनुयोगिता, अबच्छेदकता, अबच्छेद्यता, निरूपकता, निरूप्यता आदि शब्द कठिनाई से प्राप्त होते हैं, वहीं नव्यन्याय के ग्रन्थों में इनकी भरमार रहती है। नव्य न्याय

के ये शब्द उसमें प्रवेश चाहने वाले अध्येताओं को ठीक उसी प्रकार भयावने लगते है जैसे किसी दुर्गम वन में प्रवेश चाहने वाले मनुष्यों को सिंहे व्याघ्र आदि हिंसक जन्तु।

प्राचीन न्याय और नव्यन्याय की शैली में भी महान् भेद है। प्राचीन न्याय की भाषा सरल और निराडम्बर होने पर भी प्रायोगिक शैली के कारण इतनी संक्षिप्त और सांकेतिक होती है कि उसका प्रतिपाद्य विषय बहुत शीघ्रता से स्पष्ट नहीं हो पाता, बहुत से अनुमान ऐसे प्रयुक्त होते हैं कि शैली की दु:शीलता के कारण ही जिसका अनुमानत्व स्पष्ट नहीं हो पाता तथा पक्ष, साध्य और हेतु की विशद प्रतिपत्ति नहीं हो पाती। किन्तु नव्यन्याय की भाषा आडम्बर पूर्ण तथा स्वरूपत: दुर्गम होते हुऐ भी शैली की शालीनता के कारण अर्थत: अत्यन्त स्पष्ट होती है। विषय तथा प्रतिपादन दोनों के गुणदोष चन्द्रमा की धवलिमा के समान स्पष्ट दिखते हैं।

प्राचीन न्याय और नव्यन्याय में एक अन्तर और भी है वह यह कि प्राचीन न्याय में विषय का प्रतिपादन स्थूल होता है उसके विचार तलस्पर्शी नहीं होते हैं तथा वे विषय के बाह्यकलेवर का स्पर्शकर रूक जाते है। किन्तु नव्यन्याय में विषय का प्रतिपादन सूक्ष्मता से होता है। उसके विचार विषय के सर्वांग का स्पर्श करते हैं। तथ्य यह है कि न्याय शास्त्र के प्राचीन न्याय और नव्यन्याय के नाम से जो प्रस्थान प्रतिष्ठित हैं उनका आधार है प्रतिपाद्य विषय का गौण-प्रधान भाव तथा भाषा और शैली की भिन्नता, किन्तु दोनों प्रस्थानों का मूल स्रोत एक ही है और वह है गौतम का न्यायदर्शन 'न्यायसूत्र'।

10-11 वीं शताब्दी में जब बौद्ध धर्म का पतन हुआ तो भारतीय इतिहास में एक अभिनव युग का आरम्भ हुआ। इसी समय नव्यन्याय का सृजन हुआ। नव्यन्याय में सूत्र ग्रन्थों की उपेक्षा और स्वतन्त्र ग्रन्थों का निर्माण आरम्भ हुआ। प्राचीन न्याय की भाषा अति सरल थी किन्तु नव्यन्याय की भाषा जटिल होती चली गई सम्भवत: इसीलिए कि इस युग में बौद्धों के साथ सैद्धान्तिक युद्ध चलता रहा जिससे वादी को हराने के लिए भाषा की जटिलता व्यूह रचना को साथ लेकर उहापोह पर आधारित हो गई थी। नव्य न्याय के प्रवर्तक गंगेशोपाध्याय को नव्यन्याय का पिता कहा जाता है।

न्याय का अर्थ है- विभिन्न प्रमाणों के द्वारा अर्थ का परीक्षण

करना। न्याय दर्शन में चार प्रमाण माने गये हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द (आगम)। इसका दूसरा नाम वादविद्या भी है। क्योंकि इसमें वाद में प्रयुक्त हेतु, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान आदि का वर्णन किया गया है। न्याय सूत्र के रचयिता गौतमऋषि हैं इन्हीं का नाम अक्षपाद है। न्याय दर्शन को मानने वाले नैयायिक कहलाते हैं। नैयायिकों ने प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, छल, जाति और निग्रहस्थान ये सोलह पदार्थ माने हैं। तथा आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति दोष, प्रत्यभाव (पूनर्जन्म), फल, दुख, और अपवर्ग (मुंक्ति) ये 12 प्रमेय माने हैं। नैयायिक सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं। तथा उसे अस्वसंवदी माना गया है। उनका मत है कि ज्ञान स्वयं अपना प्रत्यक्ष नहीं करता है किन्तु दूसरे ज्ञान के द्वारा उसका प्रत्यक्ष होता है। नैयायिकों के समान वैशेषिक भी सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं। दोनों ने ही अर्थ और आलोक को ज्ञान का कारण माना है। दोनों ही गृहीतग्राही धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण मानते हैं तथा आत्मा को शरीर परिमाण न मानकर व्यापक मानते हैं। सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर को मानते हैं तथा दोनों ही दर्शनों ने हेतु के पांचरूप (पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधित विषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व) माने हैं। तथा अनुमान के प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये पांच अवयव माने हैं। न्याय दर्शन भारतीय दर्शनों की महत्त्वपूर्ण शाखा है जिसका ज्ञान न केवल दर्शन-शास्त्रों को समझने के लिए अपितु संस्कृत वाङ्मय की अन्य शाखाओं से स्वयं को भी अवगत कराने के लिए नितान्त आवश्यक है। प्रारम्भ से ही सभी शास्त्रों पर न्याय शास्त्र की गहरी छाप पड़ी है और उसकी मान्य पद्धतियों के अनुसार ही अन्य शास्त्रों का विकास हुआ है। किन्तु जब बौद्ध सम्प्रदाय के विद्वानों ने वैदिक दर्शनों की मान्यताओं की आलोचना करते हुए एक नवीन तर्क प्रधान विचार दृष्टि प्रस्तुत की तथा वैचारिक जगत् में ऐसी क्रान्ति उत्पन्न की जिससे भारत की पुरातन मान्यताएँ और मर्यादाएँ अभिभूत होने लगीं। तब आवश्यक हुआ कि शास्त्रीय विचारों में न्यायपद्धति को ऐसा अभिनव रूप दिया जाय जिससे विवादास्पद विषयों के सम्बन्ध में गम्भीर और यथार्थ चिन्तन किया जा सके। फलत: न्याय में एक नयी शैली का अविर्भाव हुआ जो भाषा और सरणि की दृष्टि से अत्यन्त प्रौढ़ और परिष्कृत थी। न्याय की यह शैली 'नव्यन्याय' शब्द से अभिहित होने लगी

और इस शैली का प्रथम ग्रन्थ 'तत्त्वचिन्तामणि' गंणेशोपाध्याय ने लिखा।

कौटिल्य का अनुसरण करते हुए जैनाचार्य सोमदेव ने (959ई) में लिखा है[16] कि आन्वीक्षिकी विद्या का पाठक हेतुओं के द्वारा कार्यों के बलाबल का विचार करता है, संकट में खेद खिन्न नहीं होता, अभ्युदय में मदोन्मत्त नहीं होता और बुद्धि कौशल तथा वाक्कौशल को प्राप्त करता है। किन्तु मनुस्मृति में आन्वीक्षिकी को आत्मविद्या[17] कहा है और सोमदेव[18] ने भी आन्वीक्षिकी को अध्यात्मविषय मे प्रयोजनीय बतलाया है। नैयायिक वात्स्यायन ने अपने न्यायभाष्य के आरम्भ में लिखा[19] है कि ये चारों विद्यायें प्राणियों के उपकार के लिए कही गयी हैं। जिनमें चतुर्थी यह आन्वीक्षिकी न्यायविद्या है। इसके पृथक प्रस्थान संशय आदि पदार्थ है, यदि उन संशय आदि का कथन न किया जाये तो यह केवल अध्यात्मविद्या हो जायेगी, जैसे कि उपनिषद्। इसका आशय यह है कि यदि आन्वीक्षिकी में न्याय शास्त्र प्रतिपादित संशय, छल, जाति आदि का प्रयोग किया जाता है तो वह न्यायविद्या है अन्यथा तो अध्यात्मविद्या है। इस तरह आन्वीक्षिकी का विषय आध्यात्म भी है और हेतुवाद भी है। इनमें से आत्मविद्या रूप आन्वीक्षिकी का विकास 'दर्शन' कहलाया तथा हेतुविद्या रूप आन्वीक्षिकी का विकास 'न्याय' कहलाया।

वात्स्यायन भाष्य में 'आन्वीक्षिकी' का अर्थ न्याय विद्या करते हुए लिखा है[20] कि 'प्रत्यक्ष और आगम के अनुकूल अनुमान को अन्वीक्षा कहते हैं। अत: प्रत्यक्ष और आगम से देखे हुए वस्तुतत्त्व के पर्यालोचन या युक्तायुक्तविचार का नाम अन्वीक्षा है और जिसमें वह हो उसे आन्वीक्षिकी कहते हैं।

न्याय[21] शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए भी शास्त्रकारों ने इसका यही अर्थ किया है कि जिसके द्वारा निश्चित् और निर्वाध वस्तुतत्व का ज्ञान होता है उसे न्याय कहते हैं। ऐसा ज्ञान प्रमाण के द्वारा होता है इसी से न्याय विषयक ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य प्रमाण सिद्ध होता है।

अक्षपाद ने न्याय शास्त्र को लेकर ही एक दर्शन की स्थापना की थी जिसे न्यायदर्शन कहते हैं। इस दर्शन ने सोलह पदार्थो के तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति माना है। उन सोलह पदार्थों में जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति आदि भी हैं। जिनका उपयोग मुख्यरूप से वादविवाद में ही होता है। न्याय दर्शन के न्यायसूत्र नामक मूल ग्रन्थ में इन सबका सांगोपांग वर्णन है।

जब बौद्धों और जैनों ने न्याय शास्त्र की ओर अपना ध्यान आकर्षित किया तब तक न्यायदर्शन इस विद्या में पूर्ण उन्नति कर चुका था।

न्यायसूत्रों के उद्भव का सुनिश्चित काल ज्ञात नहीं है, किन्तु एक सुव्यवस्थित दर्शन के रूप में न्यायदर्शन का उद्भव अन्य प्राचीन दर्शनों से अर्वाचीन है। बौद्ध[22] दार्शनिक नागार्जुन ने अपनी कृति में न्याय दर्शन के सोलह पदार्थों पर आक्षेप किया है अत: नागार्जुन के समय में न्यायसूत्र किसी न किसी रूप में उपस्थित होना चाहिए। नागार्जुन के पूर्व बौद्ध धर्म में किसी ने न्यायसूत्र की ओर ध्यान नहीं दिया था परन्तु जब नागार्जुन के सिद्धान्त को अमान्य किया गया तो बौद्ध दार्शनिक **असंग** और **वसुवन्धु** ने न्याय शास्त्र की ओर ध्यान दिया। वसुबन्धु तर्क शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान हुए हैं। उन्होंने तर्क शास्त्र पर तीन प्रकरण भी रचे है। उनके पश्चात् दिङ्नाग और धर्मकीर्ति बौद्ध दार्शनिक ने न्याय शास्त्र को यथार्थरूप में स्वीकार करके 'बौद्ध न्याय' को प्रतिष्ठित किया। बौद्ध न्याय के पिता दिङ्नाग और उनके अनुयायी धर्मकीर्ति के पश्चात जैनपरम्परा में जैनन्याय के प्रस्थापक अकलंक देव का जन्म हुआ और जैनदर्शन में जैनन्याय पर स्वतंत्र ग्रन्थों की रचना हुई। जैसे युद्धकाल में युद्ध के उपकरणों का विकास होता है वैसे ही विविध दर्शनों के पारस्परिक संघर्ष काल में स्वपक्ष के रक्षण और परपक्ष के निराकरण के लिए तर्क शास्त्र का विकास हुआ।

रसियन विद्वान चिरविट्स्की ने **'बौद्ध न्याय'** नामक विद्वतापूर्ण ग्रंथ के प्रारंभ में लिखा है कि बौद्धन्याय से हम तर्क शास्त्र की उस पद्धति का बोध करते हैं जिसका निर्माण ईसा की 6-7 वीं शताब्दी में बौद्ध धर्म के दो महान तार्किक दिङनाग और धर्मकीर्ति ने किया था। इनके साहित्य में सर्वप्रथम परार्थानुमान का वर्णन है। अत: परार्थानुमान ही तर्क या शब्द से कहे जाने के लिए सर्वथा उपयुक्त है। दूसरों को समझाने के लिए जो अनुमान प्रयोग किया जाता है उसे परार्थानुमान कहते है। विकल्प या अध्यवसाय, अपोहवाद और स्वार्थानुमान के सिद्धान्त उसी परार्थानुमान की देन है।

जैन परम्परानुसार जैन न्याय के बीज आगम साहित्य में तो प्राप्त होते ही हैं साथ ही दर्शन युग के प्रणेता आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य समन्तभद्र, आचार्य सिद्धसेन आदि आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में न्यायविद्या को स्थान दिया, परन्तु जैन न्याय का पूर्णविकसित रूप आचार्य

अकलंक के ग्रन्थों में प्राप्त होता है तथा इसी कारण उन्हें जैनन्याय का जनक कहा जाता है। आचार्य अकलंक की ही परंपरा को अनवरत रखते हुये आचार्य हरिभद्र, विद्यानन्दि, माणिक्यनन्दि आदि आचार्यों ने इस न्यायविद्या को पुष्ट किया तथा आचार्य प्रभाचन्द्र ने अपनी तार्किक मेधा के बल से आचार्य अकलंक के लघीयस्त्रय पर न्यायकुमुदचन्द्र एवं आचार्य माणिक्यनन्दि के परीक्षामुखसूत्र पर महाभाष्य स्वरूप **प्रमेयकमलमार्तण्ड** टीका लिखकर जैनन्याय के स्वरूप को पूर्णता प्रदान की। इस प्रकार न्यायशास्त्र में प्रमाण और उसके अंगोपांगों अनुमानादि के विवेचन का ही प्राधान्य है और अद्यतन इसी आधार पर अनेकानेक स्वतंत्र ग्रंथ रचे गये हैं।

संदर्भ-

1. विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह।
अविद्या मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुत।। ईङ्गावास्योपनिषद्, मन्त्र 11

2. द्वे विद्ये वेदित्व्ये हि परा चैवापरा च ते। रूद्रहृदयोपनिषद्, मन्त्र 28 ।

3. मुण्डकोपनिषद्, मंत्र 41

4. तत्रपरा ऋग्वेदो यजुर्वेदःसामवेदोऽथर्ववेदः ङ्गिक्षा कल्पो व्याकरणं निरूक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा ययातदक्षरमधिगम्यतेमुण्डकोपनिष्द्, मंत्र 51

6. नास्तिको वेदनिन्दकः। मनुस्मृति 2:11 ।

7. तन्त्रवार्तिक, 1/3/2, पृ., 811

8. कौटिल्य अर्थ शास्त्र 1/2/11

9. कौटिल्य अर्थ शास्त्र-1/2/11

10. न्यायभाष्य 1.1.11

11. न्यायभाष्य 1.1.11

1 2 उद्धृत, सांख्य प्रवचन, पृ. 41

13. सांख्य दर्शनम् , प्र. परि. 1/25 पृ. 3071

14. वात्स्यापन भा. 1/1/1 ।

15. न्यायभाष्य सूत्र 1/1 ।

16. आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीति चेति चतस्रोराजविद्याः। अधीयानो ह्यान्वीक्षिकीं कार्याणाबलाबलं हेतुभिर्विचारयति, व्यसनेशु न विषीदति, नाभ्युदयेन विकार्यते समधिगच्छति प्रज्ञावाक्यवै शारद्यम।। नी.वा , श्लोक 561

17. मनुस्मृति, अ. 7, श्लोक 431

18. आन्वीक्षिक्यधयात्मविषये.. ।।60।। नीतिवाक्यामृत, श्लोक 601

19. न्यायभाष्य 1/1/1 ।

20. वात्स्यायनभाष्य, 1/1/1 ।

21. नीयते ज्ञायते विवक्षितार्थो*नेनेति न्यायः- न्यायकुसुमाञ्जलि।

नितरामीयन्ते गम्यन्ते गव्यर्थानां ज्ञानार्थत्वात् ज्ञायन्तेऽर्थाः अनित्यत्वास्तित्वादयोऽनेनेति न्यायः तर्क मार्गः। न्याय प्रवे शपञ्जिका पृ.11

निश्चितं च निर्बाधं च वस्तुतत्त्वमीयतेऽनेनेतिन्यायः। न्यायविनि चयालंकार, भा.1, पृ.331

सहायक आचार्य, जैनविद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन विभाग
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ (राजस्थान)